वर्षम् - ०४ अङ्कः – ०४ शोधज्योतिः
जनवरी – दिसम्बर, 2022 ISSN-2350-0700

संस्कृत वाङ्मय में शैक्षिक आत्मनिर्भरता

डॉ. जानकीशरणः आचार्यः[१]

१. प्रस्तावना

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् हमारे देश ने आर्थिक, वैज्ञानिक, कृषि आदि क्षेत्रों में बहुत उन्नति की है जिसके फलस्वरूप स्वतन्त्रता प्राप्ति के ७५वें वर्ष के उपलक्ष में "स्वतन्त्रता का अमृत महोत्सव" हर्षोल्लास से मनाया जा रहा है। यद्यपि हमारे देश के वैज्ञानिकों, चिंतकों, अर्थशास्त्रियों और मनीषियों के उन्नत चिंतन से भारत ने बहुत से क्षेत्रों में आत्मनिर्भरता को प्राप्त किया हैं तथापि किसी भी देश के लिए सर्वविध आत्मनिर्भरता का मूल है - बौद्धिक आत्मनिर्भरता। भारत के परिप्रेक्ष्य में यदि हम देखे तो यह प्रतीत होता है कि बौद्धिक रूप से आत्मनिर्भरता की प्राप्ति का लक्ष्य अभी भी हमारे लिए दूर हैं। भौगोलिक, आर्थिक एवं राजनीतिक रूप से हम स्वतंत्र हैं किंतु बौद्धिक रूप से भी क्या हम स्वतंत्र हैं? इस विषय पर विचार करना आवश्यक है।

आत्मनिर्भरता की संकल्पना भारतीय चिन्तन परम्परा में नई नहीं है। वैदिक साहित्य से लेकर आधुनिक संस्कृत साहित्य में राजनीतिक, आर्थिक, भौगोलिक, तकनीकी इत्यादि क्षेत्रों में आत्मनिर्भरता का विवरण प्राप्त होता है। संप्रति विश्व में प्रचलित ज्ञान और प्रौद्योगिकी प्रणाली के मूल में भी प्राचीनतम भारतीय ज्ञान परंपरा का योगदान अवश्य है। हमारी नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति-२०२० भी भविष्यकालीन "आत्मनिर्भर भारत" की संकल्पना की पूर्वपीठिका प्रस्तुत करती है। प्राचीन भारतीय ज्ञान परंपरा जिसको नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति में "भारतीय ज्ञान प्रणाली" (Indian Knowledge System) तथा "संस्कृत ज्ञान प्रणाली" (Sanskrit Knowledge System) कहा गया है[२], यह भारतीय ज्ञान प्रणाली विविध क्षेत्रों में भारत के आत्मनिर्भर होने के लिए एक प्रकाश स्तम्भ के रूप में मार्गदर्शक का काम करती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के अमृत महोत्सव के अवसर पर अभी भी बहुत से क्षेत्रों में पर हम पराश्रित है, कुछ क्षेत्रों में तो हम अन्य का अनुकरण मात्र कर रहे हैं। राजनीति, अर्थनीति, विज्ञान, कृषि, प्रशासन, निर्माण,

---

[१] *Former Dean (Faculty of Darshana) & Assistant Professor, Shree Somnath Sanskrit University, Veraval - 362665 Dist. Gir - Somnath (Gujarat) Email: janakisharan@gmail.com, Mobile: 8758817525*

[२] *राष्ट्रीय शिक्षा नीति-२०२०, बिन्दु ४.१७*

कला इत्यादि क्षेत्रों में आत्मनिर्भरता वस्तुतः बौद्धिक आत्मनिर्भरता के अधीन है। इसीलिए नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति में अनेक स्थानों पर प्राचीन भारतीय ज्ञान परंपरा के माध्यम से भाषा, तकनीकी, कौशल, कला इत्यादि क्षेत्रों में किस तरह से प्रगति की जाये, इसका विवरण प्राप्त होता है।इसके अतिरिक्त Make in India, Vocal for Local, स्वदेशी वस्तुओं के क्रयण का आग्रह इत्यादि प्रकल्प भी बौद्धिक आत्मनिर्भरता की दिशा में किए जा रहे विभिन्न प्रयास है।

२. संस्कृत वाङ्मय में आत्मनिर्भरता की संकल्पना

संस्कृत वाङ्मय एवं संस्कृत शास्त्रों में नगर संरचना, प्रशासन, युद्ध नीति, उद्योग, कृषि, चिकित्सा, विज्ञान, शिक्षा, पाक शास्त्र, प्रजनन शास्त्र, गणित, खगोल विज्ञान, धातु विज्ञान, शल्य विज्ञान, आयुर्वेद विज्ञान, चित्र कला, वाणिज्य कला, प्रबंधन शास्त्र, वास्तु शास्त्र, स्थापत्य शास्त्र, योग इत्यादि अनेक विषयों में भारतीय मनीषा का मौलिक चिन्तन प्राप्त होता है। इसी आर्ष मनीषा के बल पर भारत इन क्षेत्रों में आत्मनिर्भर रहा है और आर्ष ज्ञानज्योति से समग्र विश्व में ज्ञान प्रणाली का संचार किया था। संस्कृत वाङ्मय में मानव जीवन के सर्वांगीण विकास के लिये आवश्यक विविध क्षेत्रों की सूक्ष्म से सूक्ष्म चिन्तन परम्परा एवं उस ज्ञान परम्परा से विकसित इन विषयों का भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में सांगोपांग वर्णन प्राप्त होता है। भारतीय संस्कृति और भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तों का विश्व स्तर पर महान प्रभाव दिखाई देता है। संस्कृत साहित्य में निरूपित चतुःषष्टि कलाएं धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष - इन चार प्रकार के पुरुषार्थ की प्राप्ति करवाते हुए मनुष्य को अनन्त आनन्द की प्राप्ति का राजमार्ग प्रदान करती है।

भारत संस्कृति का समृद्ध भंडार हैं जो हजारों वर्षों में विकसित और पल्लवित हुआ है। यहां की कला, संस्कृति, परंपराएं, भाषा की अभिव्यक्ति तथा शिक्षा प्रणाली विश्व की अन्य संस्कृतियों के लिए प्रेरणास्रोत बनी है। भारतीय संस्कृति में निहित इन सैद्धान्तिक तत्त्वों का अवलंबन करके विश्व की कितनी ही अन्य संस्कृतियों ने पोषण प्राप्त किया है। विश्व इतिहास को देखे तो ज्ञात होता है कि कितनी ही संस्कृतियाँ उन्नति के शिखर पर पहुंच कर भी काल के कराल प्रवाह में विलुप्त हो गई, किंतु भारतीय संस्कृति ही पारसीकों, यूनानियों, सिथियनों, हूणों, तुर्कों के बार-बार बाह्य आक्रमणों तथा आन्तरिक संघर्षों एवं संक्षोभों के रहते हुए भी हजारों वर्षों से जीवित रही है और अपनी परम्पराएँ अक्षुण्ण रख सकी हैं। इसका मूल कारण है - हमारी संस्कृति के आधारभूत विषयों में हमारा मौलिक चिन्तन और उन विषयों में हमारी आत्मनिर्भरता। भारतीय संस्कृति के मूलभूत आधार स्तंभ तथा सैद्धान्तिक तत्त्व हमारे पूर्व मनीषियों, ऋषि-मुनियों की प्रज्ञा का परिणाम है। स्वाध्याय एवं अनुसन्धान में नित्य निरत

मनीषियों की परम्परा से "सा संस्कृतिर्विश्ववारा[३]" इस वैदिक घोष से निनादित भारतीय संस्कृति अद्यावधि अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में चिरन्तनी है। संस्कृत वाङ्मय एवं संस्कृत शास्त्रों में बौद्धिक आत्मनिर्भरता के विषय में निरूपित इन विषयों का चिंतन एवं आधुनिक दृष्टि से अनुसन्धान करके वैश्विक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण इस समृद्ध भारतीय ज्ञान परंपरा का हम न केवल भावी पीढ़ी के लिये संरक्षण कर सकते है अपितु इसमें और अधिक शोध और अनुसंधान करके मानव मात्र के लिये कल्याण का पथ प्रदर्शित कर सकते है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति-२०२० की प्रस्तावना में कहा गया है कि "ज्ञान (Knowledge), प्रज्ञा (Wisdom) और सत्य (Truth) की खोज को भारतीय विचार परंपरा और दर्शन में सदा सर्वोच्च लक्ष्य माना जाता था। प्राचीन भारत में शिक्षा का लक्ष्य सांसारिक जीवन अथवा स्कूल के बाद के जीवन की तैयारी के रूप में ज्ञान अर्जन नहीं बल्कि पूर्ण आत्मज्ञान और मुक्ति के रूप में माना जाता था। तक्षशिला, नालंदा, विक्रमशिला और वल्लभी जैसे प्राचीन भारत के विश्व स्तरीय संस्थानों ने अध्ययन के विविध क्षेत्रों में शिक्षण और शोध के ऊंचे प्रतिमान स्थापित किए थे और विभिन्न पृष्ठभूमि और देशों से आने वाले विद्यार्थियों और विद्वानों को लाभान्वित किया था।[४]"

भारतीय शिक्षा प्रणाली में मौलिक चिन्तन एवं आत्मनिर्भरता का ही यह परिणाम रहा कि इस शिक्षा व्यवस्था ने विश्व को चरक, सुश्रुत, आर्यभट्ट, वराह मिहिर, भास्कराचार्य, ब्रह्मगुप्त, चाणक्य, पाणिनि, पतंजलि, नागार्जुन, गौतम, मैत्रेयी, गार्गी जैसी विद्वत्परम्परा को जन्म दिया जिसने गणित, खगोल विज्ञान, धातु विज्ञान, चिकित्सा विज्ञान, शल्य चिकित्सा, नागरिक शास्त्र, भवन निर्माण, नौकायान निर्माण, भूगोल, विज्ञान, योग, ललित कला, शतरंज आदि वैश्विक स्तर के ज्ञान के विविध क्षेत्रों में प्रामाणिक रूप से मौलिक योगदान दिया है। इन्हीं क्षेत्रों में एक क्षेत्र है - शिक्षा, जिसमें भारतीय चिन्तन प्रणाली के बौद्धिक रूप से आत्मनिर्भर होने के कारण इसने विश्व इतिहास की सर्वोच्च प्रज्ञा को जन्म दिया है।

३. शिक्षा का अर्थ

शिक्षा केवल आजीविका प्राप्ति के लिए साधन मात्र नहीं है, बल्कि यह हमारी संस्कृति का अभिन्न अंग है जो एक बड़े स्तर पर सोच और क्षमता के संदर्भ में हमारी विचार परंपरा को निर्मित करके प्रभावित करती है। अतः एव भारतीय संस्कृति में शिक्षा वह है जो मुक्ति प्रदान करती है- "सा विद्या या विमुक्तये[५]"। "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते [६]" यह विद्या के विषय में वेदघोष है। भारतीय संस्कृति के अनुसार वही विद्या प्रशस्य है जो मुक्ति प्रदान करती है। अतः वेद, शास्त्र, विज्ञान आदि का

---

[३] *यजुर्वेद, ७.१४*

[४] *राष्ट्रीय शिक्षा नीति-२०२०, परिचय भाग*

[५] *विष्णुपुराण, १.१९.४१*

[६] *ईशोपनिषत्, ११*

सम्यक् अध्ययन एवं अनुशीलन करके तत्त्वज्ञान की प्राप्ति ही विद्या कहीं जाती है। उपनिषदों के अनुसार दो प्रकार की विद्याएं हैं - परा और अपरा। जिस विद्या से लौकिक ज्ञान होता है वह अपरा विद्या है और जिस विद्या से अक्षर ब्रह्म विषय का ज्ञान होता है वह परा विद्या है। इस लोक में विद्या ही वह ज्योति हैं जो मानव में ज्ञान ज्योति जलाकर अविद्यारूपी अंधकार को दूर करती है, दुर्गुणों को निवारण करके सद्गुणों का आधान करती है, मान की कीर्ति को फैलाकर उसके गौरव में अभिवृद्धि करती है। यह विद्या माता की तरह संरक्षिका, पिता की तरह सत्पथ प्रदर्शनी, कांता की तरह सुख देने वाली और मनोरंजन करने वाली, कीर्तिप्रदा, वैभवदात्री और दुर्गुणों के समूह का नाश करके मन को पवित्र करने वाली है। इसलिये विद्वान् इसे सभी मनोरथों को पूर्ण करनेवाली कल्पलता ही मानते हैं। जैसे कि कहा भी गया है -

"मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते कान्तेव चापि रमयत्यपनीय खेदम्।
लक्ष्मीं तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्तिम् किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या॥[७]"

विद्या का प्रयोजन भी भारतीय संस्कृति में बड़े ही सुन्दर ढंग से निरूपित किया गया है, जिसमें कहा गया है कि विद्या से विनय की प्राप्ति होती है, विनय से हमें पात्रता की प्राप्ति होती है, पात्रता से हमे धन की प्राप्ति होती है, धन से धर्म की प्राप्ति होती है और धर्म से सुख की प्राप्ति होती है।[८]

३.१ शिक्षा शब्द का शाब्दिक अर्थ

शिक्षा शब्द "शिक्ष विद्योपादाने" धातु से बना है जिसका अर्थ होता है - शिक्षण एवं अध्ययन। विद्या शब्द "विद्लृ उपादाने" धातु से निष्पन्न होता है। यह भी पूर्वोक्त अर्थ का ही वाचक है। प्राचीनकाल में शिक्षा के लिये "अनुशासन" शब्द का प्रयोग भी प्राप्त होता है।[९] शिक्षा का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द Education है जिसका अर्थ होता है - अन्दर से बाहर की और ले जाना। मानव की अन्तर्निहित शक्तियों का प्रस्फुटन ही शिक्षा का उद्देश्य है, यह पाश्चात्य शिक्षाविदों का मत है।

३.२ शिक्षा के प्रति पाश्चात्य एवं भारतीय दृष्टिकोण

पाश्चात्य जगत् में शैक्षिक विचारों का विकास यूनानी दार्शनिक सुकरात, प्लेटो और अरस्तु के सिद्धान्तों से हुआ है। प्लेटो के अनुसार शिक्षा द्वारा मनुष्य नैतिक विकास कर आत्मा की अनुभूति कर सकता है। अरस्तु के अनुसार स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क का निर्माण ही शिक्षा है। प्रसिद्ध आदर्शवादी शिक्षा दार्शनिक एच.एच हार्न के अनुसार "सत्य, सुन्दर तथा शिव जाति के आध्यात्मिक आदर्श है और इसीलिए

---

[७] *भर्तृहरि - नीतिशतक*

[८] *"विद्या ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम्। पात्रत्वात् धनमाप्नोति धनात् धर्मं ततः सुखम्॥" - प्रसिद्धं सुभाषितम्*

[९] *तैत्तिरीयोपनिषत्, १.११.४*

शिक्षा का सर्वोच्च कार्य इन आवश्यक वास्तविकताओं से, जिनका जाति के इतिहास ने प्रकटीकरण किया है, बालक का समायोजन करना है।[१०]" पश्चिम के व्यवहारवादी दार्शनिकों के अनुसार शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जो व्यक्ति को विभिन्न परिस्थितियों में समायोजित करती है। ऐसी ही परिभाषाएं अन्य पाश्चात्य शिक्षाविदों की हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आलोचन से यह स्पष्ट है कि पश्चिमी विद्वानों के अनुसार शिक्षा मानव जीवन के विकास की अनवरत प्रक्रिया है। किन्तु भारतीय विद्वानों के अनुसार शिक्षा के अन्तर्गत आध्यात्मिक पक्ष की उपेक्षा के कारण पश्चिमी विद्वान् शिक्षा की व्यापक परिभाषा देने में असमर्थ रहे हैं। अब हम शिक्षा सम्बन्धी भारतीय दृष्टिकोण का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

भारतीय संस्कृति में जीवन की समग्र कल्पना की गई है। शिक्षा के द्वारा मानव इहलौकिक तथा पारलौकिक हित का सम्पादन करता है।[११] अर्वाचीन भारतीय शिक्षाशास्त्रियों ने भी शिक्षा के आध्यात्मिक पक्ष पर बल दिया है। स्वामी दयानन्द के अनुसार "जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ ही साथ जानता है, वह अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को जीतकर विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है।[१२]" स्वामी विवेकानन्द मानव की अन्तर्निहित शक्तियों के विकास की शिक्षा का प्रयोजन मानते है - "मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है।[१३]" अतः भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आत्मिक विकास की प्रक्रिया का नाम शिक्षा है। संस्कृत वाङ्मय में निरूपित शिक्षा के उद्देश्यों को संक्षेप में निम्नरूप से कहा जा सकता है कि शिक्षा -

- मनुष्य की नैसर्गिक शक्ति का सम्यक् विकास।
- वास्तविक मनुष्य का निर्माण अर्थात् सफल जीवन के लिये अपेक्षित क्षमताओं का विकास।
- मानव के भौतिक और आध्यात्मिक जीवन का सर्वांगीण विकास।
- मानव में सदाचार, सत्य, दया, बन्धुत्व भावना आदि मानवीय मूल्यों का विकास।
- वैयक्तिक चेतना की जागृति करके आध्यात्मिक अभ्युदय की प्राप्ति करना।

४. संस्कृत वाङ्मय में शैक्षिक आत्मनिर्भरता

अब हम संस्कृत वाङ्मय में निरूपित शैक्षिक आत्मनिर्भरता का किंचित् विमर्श प्रस्तुत करते है, जिसमें सर्वप्रथम प्राचीन ज्ञानप्रणाली के केन्द्र में विषय में संक्षिप्त विचार होगा। प्राचीन भारतीय ज्ञान प्रणाली

---

[१०] *Horne, H.H. The Philosophy of Education, Harper & Bros. New York, P. 102.*

[११] *केनोपनिषद् शांकरभाष्य २.४*

[१२] *सत्यार्थ प्रकाश, स्वामी दयानन्द सरस्वती, नवम उल्लास*

[१३] *स्वामी विवेकानन्द – शिक्षा, श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर, पृ. ८*

में शिक्षा का प्रारम्भिक केन्द्र प्रायः घर ही होता था। महाशील, महाश्रोत्रिय पिता प्रथम गुरु होता था। जैसे छान्दोग्योपनिषत् के श्वेतकेतु आख्यान में उद्दालक आरुणि के पास उसके पुत्र श्वेतकेतु ने ज्ञान प्राप्त किया।[१४] तैत्तिरीयोपनिषद् में भी भृगु और वरुण के संवाद के ज्ञात होता है कि भृगु ने अपने पिता से ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया था।[१५] यहाँ पिता शब्द में माता का भी अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे "पितरौ" इस संस्कृत शब्द से अथवा parents इस अंग्रेजी शब्द से माता और पिता दोनों का ग्रहण होता है। अतः षोडश संस्कारों में परिगणित जातकर्म संस्कार में मधुघृत प्रासन के समय यह मन्त्र पढा जाता है -

"अङ्गदङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे। आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम्॥
अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमश्रुतं भव। पशूनां त्वां हि कारेणाभिजिघ्रामि.....।
वेदो वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम्॥"[१६]

इस मन्त्र में माता-पिता अपनी सन्तान में विनय, संस्कार, शुभ आचरण, ज्ञान आदि गुणों के सन्निवेश की कामना करते हैं। माता-पिता के लिये अपनी सन्तति को शिक्षा प्रदान करना उनका दायित्व माना गया है। एक सुभाषित में ऐसे माता-पिता को पुत्र का शत्रु बताया है जो अपने पुत्र को अध्ययन नहीं कराते हैं।[१७] प्राचीन भारत में विद्या का समारम्भ उपनयन संस्कार के पश्चात् विधिवत् किया जाता था। वर्णाश्रम के अनुसार उपनय संस्कार का विधान किया गया है। जैसे - **"अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत्, गर्भाष्टमे वा, एकादशे क्षत्रियं द्वादशे वैश्यम्। आ षोडशाद् ब्राह्मणस्यानतीतः कालः। आ द्वाविंशात्क्षत्रियस्य। आ चतुर्विंशाद्वैश्यस्य"**।[१८] अर्थात् ब्राह्मण का उपनयन गर्भाधान या जन्म से लेखर आठवें वर्ष में, क्षत्रिय का ११वें वर्ष में एवं वैश्य का १२वें वर्ष में होना चाहिए; यही नहीं, क्रम से १६वें, २२वें एवं २४वें वर्ष तक भी उपनयन का समय बना रहता है। यज्ञोपवीत, जिसे कुछ स्मृतियों में ब्रह्मसूत्र कहा गया है, उपनयन संस्कार का एक अनिवार्य अंग माना गया है। स्त्रियों के उपनयन का विधान भी स्मृतियों में मिलता है। स्मृतिचन्द्रिका में उद्धृत हारीतधर्मसूत्र तथा अन्य निबन्धों में विवरण प्राप्त होता है कि स्त्रियों के दो प्रकार हैं - ब्रह्मवादिनी (ज्ञानिनी) एवं सद्योवधू (जो सीधे विवाह कर लेती है)। इनमें ब्रह्मवादिनी को उपनयन करना, अग्निसेवा करना, वेदध्ययन करना पड़ता था, किन्तु सद्योवधुओं का

---

[१४]द्रष्टव्य – छान्दोग्योपनिषत् षष्ठाध्याय

[१५]"भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति"। - तैत्तिरीयोपनिषत्, ३.१.१

[१६]कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्, २.११

[१७]"माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः। न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा॥ - सुभाषित

[१८]आश्वलायन गृह्यसूत्र, १.१९.१-६

विवाह के समय केवल उपनयन कर दिया जाता था।[१९] गोभिलगृह्यसूत्र[२०], आश्वलायनगृह्यसूत्र[२१], महाभारत[२२] आदि में भी स्त्रियों के उपनयनपूर्वक विधिवत् विद्याग्रहण की बात कही गई है। उपनिषत्कालीन संस्कृति में भी विद्यावती पुत्री की प्राप्ति के लिये क्रियमाण निर्देशों का विधान प्राप्त होता है। बृहदारण्यक उपनिषत् के **"अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति**[२३]**"** इस मन्त्र में पिता अपनी पुत्री के विदुषी होने और पूरे सौ वर्षों की आयु तक जीवित रहने की कामना करता है। शंकराचार्य और मण्डन मिश्र के प्रसिद्ध शास्त्रार्थ के सन्दर्भ में मण्डनमिश्र की पत्नी भारती ने ही निर्णायक के दायित्व का निर्वहन किया था जो उसकी न केवल सामान्य विद्या का अपितु वेदान्त, मीमांसा आदि गहन शास्त्रों में विद्यार्जन का द्योतक है। संस्कृत वाङ्मय के अनेक नाटकादि ग्रन्थों में राजकुल की स्त्रियों एवं सेविकाओं के लिये ६४ विद्याओं में नैपुण्य का वर्णन प्राप्त होता है। प्राचीन भारत में विद्याग्रहण में सभी का अधिकार था। यजुर्वेद में सभी के लिये वेद ज्ञान की बात कही गयी है, यथा -

"यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।
प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप मादो नमतु॥[२४]"

महाभारत में सभी वर्णों के लिये संस्कृत भाषा और साहित्य की चर्चा उपलब्ध होती है। जगद्गुरु शंकराचार्य ने भी ब्रह्मसूत्रों के विधुराधिकरण के भाष्य में कहते हैं कि वर्णाश्रम के भेद से यद्यपि कर्मांग विद्या में सभी का अधिकार नहीं है, जैसे राजसूय में केवल क्षत्रिय का ही अधिकार है ब्राह्मण आदि का नहीं, किन्तु ब्रह्मज्ञान में सभी का अधिकार है। अतः श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ गुरु को भी बन सकता है क्योंकि विद्या की प्राप्ति जप, उपवास, देवता आराधन, पुरुषार्थ आदि से होती है।[२५] चारों आश्रमों में

---

[१९] *"यत्तु हारीतेनोक्तं द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवद्वश्च। तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनमग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे च भिक्षाचर्येति। सद्योवधूनां तु उपस्थिते विवाहे कथञ्चिदुपनयनमात्रं कृत्वा विवाहः कार्यः।" – स्मृतिचन्द्रिका (भाग १, पृ. २४) एवं संस्कार मयूख (पृ. ४०२)।*

[२०] *"प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीमभ्युदानयन् जपेत् सोमो ददद गन्धर्वायेति" – गोभिलगृह्यसूत्र २.१.१९। इसकी टीका में कहा गया है कि "यज्ञोपवीतवत्कृतोत्तरीयाम्", "न तु यज्ञोपवीतिनीमित्यनेन स्त्रीणामपि कर्माङ्गत्वेन यज्ञोपवीतधारणमिति हरिशर्मोक्तं युक्तं स्त्रीणां यज्ञोपवीतधारणानुपपत्तेः।" – संस्कारतत्त्व, पृ. ८९६*

[२१] *"अनुलेपनेन पाणी प्रलिप्य मुखमग्रे ब्राह्मणोऽनुलिम्पेत्। बाहू राजन्यः। उदरं वैश्यः। उपस्थं स्त्री। उरूसरणजीविनः।" – आश्वलायनगृह्यसूत्र ३.८.२*

[२२] *"ततस्तामनवद्याङ्गीं ग्राहयामास स द्विजः। मन्त्रग्रामं तदा राजन्नथर्वशिरसि श्रुतम्॥" – वनपर्व ३०५२०*

[२३] *बृहदारण्यकोपनिषत्, ६.४.१७*

[२४] *यजुर्वेद, २६.२*

[२५] *"पुरुषमात्रसम्बन्धिभिर्जपोपवासदेवताराधनादिभिर्धर्मविशेषैरनुग्रहो विद्यायाः सम्भवति" - ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य ३.४.३८*

प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम में विद्यार्थी ब्रह्मचारी के रूप में गुरु की सपर्या करते हुए विद्याध्ययन करता था। भारतीय शिक्षा प्रणाली के आत्मनिर्भरता के कारण का यहाँ संक्षेप में विवेचन करना प्रासंगिक होगा।

४.१ शिक्षा के केन्द्र

प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति का प्रधान आधार था शिक्षक, जिसकी कई संज्ञाएँ मिलती हैं। यथा आचार्य, गुरु, उपाध्याय आदि। विद्यार्थी की भी उसके प्रकार के आधार पर कई संज्ञाएँ होती हैं यथा अन्तेवासी, शिष्य, छात्रा इत्यादि। यहाँ आचार्य-अन्तेवासी, गुरु-शिष्य, उपाध्याय-छात्र - यह युग्म प्राप्त होता है। आरम्भ में पुत्र पिता से ही शिक्षा प्राप्त करता था, जैसा कि बृहदारण्यकोपनिषद्[२६] की श्वेतकेतु आरुणेय की गाथा, छान्दोग्योपनिषद्[२७] की श्वेतकेतु आरुणि की गाथा से ज्ञात होता है कि उसे सब कुछ ज्ञात था। भारतीय शिक्षा प्रणाली में गुरु की स्थिति को बड़ी महता दी गयी है। विद्यार्थी गुरु के पास रहकर ही विद्याग्रहण करता था जिससे गुरु अपने आचरण एवं व्यवहार उस विद्यार्थी को अध्ययन के साथ सदाचार, सेवा, श्रद्धा, निष्ठा आदि सद्गुणों से सम्पन्न करता था। गुरु से प्राप्त विद्या ही सफल मानी जाती थी। छान्दोग्योपनिषद् में सत्यकाम जाबाल अपने गुरु से कहता है कि "आपके ही समान अन्य गुरुजनों से मैंने सुना है कि गुरु से प्राप्त किया हुआ ज्ञान ही महान् होता है।[२८]" गुरु के विना आध्यात्मिक विद्या की प्राप्ति भी नहीं होती है। गुरुशब्द की व्युत्पत्ति विवेचन से भी यही अर्थ प्राप्त होता है -

(१) गु - गृह्णाति – जो अध्यात्मविद्या का उपदेश करता है, वह गुरु है।

(२) गु - निगरणे – जो अपने ज्ञान से अज्ञानरूप अन्धकार से मानव की रक्षा करता है, वह गुरु है।

(३) गु - गीर्यते – जो देवताओं की स्तुति अथवा वन्दन करता है, वह गुरु है।

आचार्य स्वयं अपने आचारण से अन्तेवासी को शिक्षा प्रदान करता है। भारतीय संस्कृति में जितने भी आचार्य हुए हैं सबने स्वयं के व्यक्तिगत कर्तव्यों का पालन करते हुए अपने आचरण से लोगों पर प्रभाव डालते हुए आदर्श समाज का निर्माण किया है। समाज का सुधार चरित्र के सुधार से ही सम्भव है। आचारण विहीन ज्ञान भी निष्फल ही है। इसी कारण आचार का आदर्श स्थापित करने वाले शिक्षक "आचार्य" कहलाते थे -

"स्वयमाचरते यस्मादाचारं स्थापयत्यपि।

---

[२६] बृहदारण्यकोपनिषद् ५.२.१

[२७] छान्दोग्योपनिषद् ६.१

[२८] "श्रुतंह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापतीति"- छान्दोग्योपनिषद् ४.९.३

आचिनोति च शास्त्राणि आचार्यस्तेन चोच्यते ॥[२९]"

व्यासस्मृति मे भी सदाचरण निष्ठ आचार्य परिभाषा प्राप्त होती है, यथा -

"अग्निहोत्री तपस्वी च वेदमध्यापयेच्च यः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥[३०]"

तैत्तिरीयोपनिषत् में तो विद्यार्थी के समावर्तन संस्कार पर आचार्य उद्घोष करता है कि हम गुरुजनों के जो शुभ आचरण है, तुम्हें उन्हीं का अनुसरण करना है, अन्य का नहीं - "यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि[३१]"।

४.२ शिक्षण की पद्धतियाँ

प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली में विद्यार्थी की योग्यता के अनुसार शिक्षण की पद्धतियाँ प्रचलित थी। शिक्षणविधियों के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय शिक्षा शास्त्रियों का दृष्टिकोण बड़ा व्यापक और मनोवैज्ञानिक रहा है। इस सन्दर्भ में अथर्ववेद का एक मन्त्र यहाँ उल्लेखनीय है जिसमें यह कहा गया है कि शिक्षक शिष्य को दैवीय मन से पढ़ाए और इस प्रकार पढ़ाए कि उसमें रमणीयता रहे और उससे सफलता मिले।[३२] उपनिषद् वाङ्मय में शिक्षणविधि के रूप में श्रवण, मनन, निदिध्यासन, स्मृतिकरण, प्रश्न-अनुप्रश्न, व्याख्या, दृष्टान्त, प्रयोग, आख्यायिका, व्युत्पत्ति, संवाद, प्रदर्शन विधि अथवा प्रयोगशाला विधियों का प्रधान रूप से प्रयोग प्राप्त होता है।[३३] इसके अतिरिक्त परिचर्चाविधि (शास्त्रार्थ विधि), आगमन और निगमन विधि (Inductive & Deductive Method), खेलविधि(Play Method), कहानी और नाटक विधिओं के प्रयोग का भी विवरण प्राप्त होता है। इन शिक्षणपद्धतियों को हम निम्नरूप से सूचीबद्ध कर सकते हैं-

(१) संवाद पद्धति	(२) दृष्टान्त पद्धति	(३) कथा पद्धति
(४) सूत्र पद्धति	(५) व्यत्पत्ति पद्धति	(६) रूपक पद्धति
(७) आत्मोक्तिपद्धति	(८) समन्वयपद्धति	(९)प्रश्न-अनुप्रश्नपद्धति
(१०) प्रयोजनपद्धति	(११) प्रतिगमनपद्धति	(१२) अन्वेषण पद्धति

---

[२९] *ब्रह्मपुराण पूर्वभाग ३२.३२*

[३०] *व्यासस्मृति, ४.४३*

[३१] *तैत्तिरीयोपनिषद् १.११.२*

[३२] *"वाचस्पते देवन सह । वसोस्पते निरमय" – अथर्ववेद वाचस्पति सूक्त*

[३३] *R. N. Aralikatti, Tirupati, Features of Upanishadic Methodology – a comparative study, All India Oriental Conference, 1974, Kurukshtra University, Kurukshetra, P R-75, P 309.*

उपनिषद् वाङ्मय में अत्यन्त कठिन, सूक्ष्म और अमूर्त विषयों का बोध करवाने के लिये समयानुगुण, विषयानुगुण और छात्रानुगुण शिक्षण पद्धतियों के प्रयोग का विवरण प्राप्त होता है। छान्दोग्योपनिषद् के षष्ठ अध्याय के पञ्चम खण्ड से सप्तम खण्ड तक यह पद्धति देखने में आती है। अन्वेषण पद्धति द्वारा शिक्षक कम पढ़ाकर उसे अन्वेषण हेतु प्रेरित करता है। यथा तैत्तिरीयोपनिषद् में वरुण का पुत्र भृगु ब्रह्म जिज्ञासा से अपने पिता के पास गया और कहा कि हे भगवन्! मुझे ब्रह्म का उपदेश करें। विधिपूर्वक अपने पास आये हुए अपने पुत्र भृगु से वरुण ने कहा कि "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।[३४]" अर्थात् जिससे सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके आश्रय से प्राण धारण करते हैं और अन्त में जिसमें लीन होते हैं, वही ब्रह्म है। तब भृगु ने मन और इन्द्रियों के समाधान रूप तप किया और तपोरूप अन्वेषण करके उसने क्रमशः "अन्नं ब्रह्म'' तत्पश्चात् "प्राणो ब्रह्म", "मनो ब्रह्म", "विज्ञानं ब्रह्म" और अन्त में "आनन्दो ब्रह्म" यह जाना। इस प्रकार गुरु के द्वारा उपदिष्ट मार्ग से क्रमशः स्वयं ही अन्वेषण करके उसने तत्त्वज्ञान प्राप्त किया।

इसके अतिरिक्त भी पद्धतियों का प्रयोग किया जाता था। जैसे न्याय दर्शन में आगमन विधि पर बल दिया गया है। हितोपदेश और पंचतंत्र कथाविधि के द्वारा ज्ञान का संप्रेषण किया गया है।

इन सभी विधियों का विस्तृत विवेचन संस्कृत वाङ्मय में प्राप्त होता है किन्तु इस आलेख के विस्तरभय के कारण यहाँ उनका विवेचन प्रस्तुत नहीं किया गया है।

४.३ विद्या अध्ययन के विषय

शिक्षा का मानव जीवन से गहरा सम्बन्ध है। शिक्षा से व्यक्ति जीवन के प्रति उचित दृष्टिकोण का निर्माण करता है। संस्कृत साहित्य में मानव जीवन के सन्दर्भ में विद्या को मानव के सभी मनोरथ पूर्ण करने वाले कल्पवृक्ष के समान बताया गया है। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार शिक्षा जीवन का मूलाधार ही नहीं वरन् शिक्षा ही जीवन है और जीवन ही शिक्षा है। जीवन की प्रेरणा शिक्षा की संचालिका है और शिक्षा का निर्देशन जीवन का नेतृत्व है। अतः भारतीय शिक्षा प्रणाली में विद्याध्यय ने विषयों में जीवन के इस दृष्टिकोण का प्राधान्य है। शिक्षा का दर्शन के साथ प्रगाढ सम्बन्ध है। दर्शनशास्त्र मानवजीवन का लक्ष्य निर्धारित करता है तो शिक्षा उस निर्दिष्ट लक्ष्य की सिद्धि के लिये मानव को प्रवृत्त करती है। दार्शनिक पक्ष के बिना शिक्षा लक्ष्यविहीन होने के कारण अन्धवत् होती है तथा शिक्षा के अभाव में दर्शनशास्त्र भी प्रवृत्ति का अभाव होने के कारण पंगुवत् ही होता है। अतः भारतीय शिक्षा प्रणाली में विद्याध्ययन के विषय के रूप में सर्वज्ञान राशि वेद ही मूल है। वेदाध्ययन के साथ वेदांग तथा वेदार्थ का उपबृंहण करने वाले शास्त्र भी शिक्षा के प्रतिपाद्य विषय है।

---

[३४] *तैत्तिरीयोपनिषद् ३.१.३*

वस्तुतः विद्या अपरा और परा भेद से दो प्रकार की कही गई है - "द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च।[३५]" इन्हीं को ही क्रमशः लौकिक विद्या तथा अध्यात्म विद्या के नाम से भी कहीं-कहीं पर संज्ञित किया है। उपनिषत् में बड़े कौतूहलपूर्ण प्रश्न के माध्यम से विद्या के इन दोनों भेदों का निरूपण किया गया है। "कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति[३६]" इस प्रश्न के उत्तर में महर्षि अंगिरा ने बताया कि षडंग सहित चारों वेद, उनसे उत्पन्न ज्ञान तथा उनका फल धर्म, अर्थ, काम को विषय करने वाली विद्या अपरा विद्या है। परा विद्या तो इससे भिन्न है जिससे अव्यक्त अक्षर सच्चिदानन्द ब्रह्म का बोध होता है। अपरा विद्या में मानव जीवन को इहलौकिक और पारलौकिक फल देने वाली सभी विद्याओं का ग्रहण हो जाता है। विष्णुपुराण में विद्या के चतुर्दश प्रभेद निरूपित किये गये हैं -

"अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या हेत्याश्चतुर्दश॥[३७]"

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र तथा पुराण ये चतुर्दश विद्यास्थान बताये गये है। लगभग इसी प्रकार का श्लोक याज्ञवक्य स्मृति में भी प्राप्त होता है जहाँ विद्यास्थान के रूप में इन चतुर्दश विषयों का निरूपण किया गया है।[३८] भविष्यपुराण के अनुसार इनमें आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र इन चार और विद्याओं को जोड़ने पर कुल १८ विद्याएँ मानी जाती थी। कालिदास ने भी १४ विद्याओं का उल्लेख किया है - "वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति।[३९]" अतः विद्यार्थी विद्याकेन्द्र में पुरुषार्थ चतुष्टय को देने वाली इन विद्याओं का स्वररुचि के अनुसार अध्ययन करता था।

प्राचीनकाल से ही अध्ययन का साहित्य बहुत विशाल रहा है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि वेद अनन्त है।[४०] शतपथ ब्राह्मण में तो विद्या के विषयांग स्वाध्याय के रूप में ऋचाओं, यजुओं, सामों, अथर्वांगिरसों, इतिहास, पुराण, गाथाओं को गिना है। छान्दोग्योपनिषद् में नारद सनत्कुमार से कहते हैं कि उन्होंने चारों वेदों, पाँचवें वेदरूप में इतिहास-पुराण, वेदों के वेद (व्याकरण), पित्र्य (श्राद्ध पर प्रबन्ध), राशि (अंकगणित), दैव (लक्षण-विद्या), निधि (गुप्त खनिज खोदने की विद्या), वाकोवाक्य (कथनोपकथन या हेतुविद्या), एकायन (राजनीति), देवविद्या (निरुक्त), ब्रह्मविद्या (छन्द एवं ध्वनि-विद्या), भूतविद्या

---

[३५] *मुण्डकोपनिषत् १.४*

[३६] *मुण्डकोपनिषत् १.३*

[३७] *विष्णुपुराण ३.६.२६ । महाभारत में भी यह श्लोक प्राप्त होता है – १२.१२२.३१*

[३८] *याज्ञवल्क्य स्मृति १.३*

[३९] *रघुवंश ५.२१*

[४०] *तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१०.११*

(भूत-प्रेत को दूर करने की विद्या), क्षत्रविद्या (धनुर्वेद), नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, देवजनविद्या (नाच, गान, अभ्यंजन आदि) सीख ली है।[४१] इसी प्रकार के विद्या विषयांगों का वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद्[४२], गौतम धर्मसूत्र[४३] आदि में भी उपलब्ध होता है। अर्थशास्त्र में चार विद्याएँ बतलायी गयी हैं - आन्विक्षिकी (तर्क अथवा दर्शन), त्रयी (तीन वेद), वार्ता (अर्थशास्त्र) और दण्डनीति (राजनीति)। इनका समग्र विवेचन अर्थशास्त्र में उपलब्ध होता है।

विद्या के इन विषयांगों के अध्ययन का तात्पर्य केवल मन्त्र आदि को कण्ठस्थ कर लेना नहीं है, प्रत्युत अर्थ भी समझना है।[४४] निरुक्त ने लिखा है कि बिना अर्थ जाने वेदाध्ययन करनेवाला व्यक्ति पेड़ एवं जड़ के समान है और केवल भार वहन करनेवाला है, किन्तु जो अर्थ जानता है उसे आनन्द की प्राप्ति होती है, ज्ञान से उसके पाप हिल जाते हैं और उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[४५]

प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति की एक विशेषता यह भी थी कि प्रायः पुस्तकों की सहायता के बिना ज्ञान प्रदान किया जाता था। अतः आचार्य को "कोशवान् आचार्यः" कहा गया है। वेद को ज्यों-का-त्यों आगे की पीढ़ियों तक ले जाने के लिये पद, क्रम, जटा आदि बड़े सुन्दर एवं सुव्यवस्थित नियम बना दिये गये थे। शिक्षा देने के लिये इन विषयों का अध्यापन मौखिक रीति से होता था।[४६] अध्ययन-अध्यापन का माध्यम प्रधानरूप से संस्कृत भाषा होती थी। आवश्यकतानुसार मातृभाषा, देशभाषा अथवा प्राकृतभाषा का प्रयोग भी किया जाता था।[४७]

इसके अतिरिक्त संस्कृत वाङ्मय में मानव जीवन को परिपूर्ण बनाने वाली ६४ कलाओं का निरूपण जिस प्रकार प्राप्त होता है, इन कलाओं के बारे में भारतीय मनीषा ने जो सूक्ष्म चिन्तन किया, वह विश्व इतिहास के शिक्षा जगत् में अद्वितीय है। इन विद्याओं को ग्रहण करने वाले अध्येताओं के प्रभेदों का निरूपण भी संस्कृत वाङ्मय में प्राप्त होता है। यथा – **(१) शिष्य** – गुरु के पास नियत रूप से श्रद्धा और

---

४१ "ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि" – छान्दोग्योपनिषद् ७.१.२

४२ बृहदारण्यक उपनिषद् २.४.१०, १.१.५

४३ गौतम धर्मसूत्र ११.१९

४४ देखिये – ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य १.३.३०, याज्ञवल्क्य स्मृति पर मिताक्षरा टीका ३.३००

४५ निरुक्त १.१८

४६ पराशरमाधवीय (भाग १, पृष्ठ १५४) में उद्धृत नारद के अनुसार जो व्यक्ति पुस्तक के आधार पर ही अध्ययन करता है, गुरु से नहीं, वह सभा में शोभा नहीं पाता। (पुस्तकप्रत्ययाधीतं नाधीतं गुरुसन्निधौ। भ्राजते न समामध्ये जारगर्भ इव स्त्रियाः॥) वृद्धगौतम ने वेद लिखने और उसे बेचने की भर्त्सना की है। पुस्तक-प्रयोग के विरुद्ध यहाँ तक कहा गया है कि ज्ञानप्राप्ति के मार्ग में यह छः अवरोधों मे से एक अवरोध है। (द्यूतं पुस्तकशुश्रूषा नाटाकासक्तिरेव च। स्त्रियस्तन्द्री च निद्रा च विद्याविघ्नकराणि षट्॥)

४७ "संस्कृतैः प्राकृतैर्वाक्यैर्यः शिष्यमनुरूपतः। देशभाषाद्युपायैश्च बोधयेत्स गुरुः स्मृतः॥" (विष्णुधर्मसूत में वीरमित्रोदय द्वारा उद्धृत)

निष्ठापूर्वक विद्याध्ययन करने वाला। "शासितुं योग्यः शिष्यः[४८]" इति व्युत्पत्ति के आधार पर शिष्य का प्रधान गुण अनुशासनप्रियता है। विद्याध्ययन काल में यह श्रोत्रिय गुरु का प्रतिपद अनुसरण करता हुआ अनुशासनपूर्वक विद्यार्जन करता है। **(२) छात्र** – जो केवल अध्ययनरत रहता हुआ गुरु के यत्किंचित् दोषों का आच्छादन करता है अथवा छत्र धारण करके शीतोष्णादि द्वन्द्व से गुरु की रक्षा करता है, वह छात्र कहलाता है।[४९] इस व्युत्पत्ति से गुरु के प्रति श्रद्धा, विश्वास, गाम्भीर्य इत्यादि छात्र के विशेष गुण अभिहित होते हैं। **(३) विद्यार्थी –** गुरु के समीप प्रणिपातभाव से जो विद्यार्जन करता है वह विद्यार्थी होता है।[५०]**(४) अन्तेवासी** – जो नियतरूप से गुरु के सानिध्य में रहकर निरन्तर गुरु शुश्रूषा पूर्वक विद्याध्ययन करता है, वह अन्तेवासी संज्ञक है। इन सभी में अन्तेवासी गुरु के सर्वाधिक निकट होता है।

भारतीय शिक्षा प्रणाली के विषय में एक और बात यह है कि वर्तमान एवं मध्य काल की अपेक्षा प्राचीनकाल में स्त्रियों की शिक्षा-सम्बन्धी व्यवस्था कहीं उच्चतर थी। बहुत-सी नारियों ने वैदिक ऋचाएँ रची हैं, यथा विश्ववारा, अपाला, घोषा आदि। विदेहराज जनक की राजसभा में ब्रह्मवादिनी गार्गी का नाम बड़ी श्रद्धा से लिया जाता है क्योंकि उसके प्रश्नों से याज्ञवल्क्य की बुद्धि चकरा उठती थी। हारीत ने स्त्रियों के लिए उपनयन एवं वेदाध्ययन की व्यवस्था दी है। भारत में नारी शिक्षक की परम्परा भी प्राप्त होती है जहाँ गार्गी वाचक्नवी, वडवा प्रातिथेयी एवं सुलभा मैत्रेयी जैसी नारी शिक्षकों के नाम प्राप्त होते हैं। पाणिनी की काशिका वृत्ति ने 'आचार्या' एवं 'उपाध्याया' नामक शब्दों के साधनार्थ यो युक्ति प्रस्तुत की है उससे यह सिद्ध होता है।[५१] महाभाष्यकार पतंजलि ने 'आपिशला' (जो आपिशलि का व्याकरण पढ़ती है), 'काशकृत्स्त्रा' (जो काशकृत्स्त्र का मीमांसा ग्रन्थ पढ़ती है) एवं 'औदमेघाः' (औदमेध्या नामक स्त्री-शिक्षिका के शिष्य) पदों की व्युत्पत्ति के प्रसंग में इसका विवेचन किया है।[५२] वात्स्यायन के कामसूत्र[५३] में आया है कि स्त्रियों अपने पिता के घर में कामसूत्र एवं उसके सहायक अंग अर्थात् ६४ कलाएँ का अध्ययन करती थी। इन कलाओं में प्रहेलिकाएँ, पुस्तकवाचन, काव्यससम्स्या पूरण, पिंगल एवं अलंकार का ज्ञान सम्मिलित था।

४.४ विद्याध्ययन के नियम

---

[४८] शास्+क्यप् (पाणिनी सूत्र ३.१.१०९)

[४९] गुरोर्दोषाणामावरणं छत्रम्, तच्छीलमस्य छात्रः। "छत्रादिभ्यो णः" – पाणिनीसूत्र ४.४.३२

[५०] विद्याम् अर्थयते तच्छीलः विद्यार्थी। विद्या उपपद पूर्वक "अर्थ" धातु से "सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" (३.२.७८) इस पाणिनीसूत्र के णिनि विधान करने से विद्यार्थी शब्द निष्पन्न होता है।

[५१] देखिये – पाणिनी अष्टाध्यायी ४.१.५९ एवं ३.३.२१ सूत्रों की वृत्ति

[५२] पाणिनी अष्टाध्यायी ४.१.१४ के वार्तिक ३ पर भाष्य

[५३] कामसूत्र १.२.१-३

भारतीय शिक्षा पद्धति के आलोक में धर्मशास्त्र ग्रन्थों में विद्याध्ययन हेतु विद्यार्थी के नियम बताये गये हैं। इन नियमों का मुख्य प्रयोजन विद्यार्थी के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास था। ब्रह्मचर्याश्रम का कठिन परिश्रम विद्यार्थी को न केवल शारीरिक रूप सक्षम बनाता था अपितु उसे भावी जीवन में आने वाले द्वन्द्वों का परिहार करने के लिये मानसिक रूप से भी सुदृढ बनाता था। गुरुकुल में गुरु के प्रत्यक्ष सानिध्य में विद्यार्थी के शिक्षण का निरन्तर मूल्यांकन किया जाता था। धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में विद्याध्ययन हेतु विद्याध्येतु के नियमों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है जिसका सार यहाँ प्रस्तुत है -

"ब्रह्मचार्यसि। अपोऽशान। कर्म कुरु। दिवा मा स्वाप्सीः। आचार्याधीनो वेदमधीष्व। द्वादश वर्षाणि प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं गृहाण व ब्रह्मचर्यं चर। आचार्यधीनो भवान्यत्राधर्माचरणात्। क्रोधानृते वर्जय। मैथुनं वर्जय। उपरि शय्यां वर्जय। कौशीलवगन्धाञ्जनानि वर्जय। अत्यन्तं स्नानं भोजनं निद्रां जागरणं निन्दां लोभमोहभयशोकान् वर्जय। प्रतिदिनं रात्रेः पश्चिमे यामे चोत्थायावश्यकं कृत्वा दन्तधावन-स्नान-सन्ध्योपासनेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनायोगाभ्यासान्नित्यमाचर। क्षुरकृत्यं वर्जय। मांसरूक्षाहारं मद्यादिपानं च वर्जय। अकामतः स्वयमिन्द्रियस्पर्शेन वीर्यस्खलनं विहाय वीर्यं शरीरे संरक्ष्योर्ध्वरेताः सततं भव। तैलाभ्यङ्गमर्दनात्यम्लातितिक्तकषायक्षाररेचनद्रव्याणि मा सेवस्व। नित्यं युक्ताहारविहारवान् विद्योपार्जने च यत्नवान् भव। सुशीलो मितभाषी सभ्यो भव। मेखलादण्ड-धारणभैक्ष्यचर्यसमिदाधानोदकस्पर्शनाचार्यप्रियाचरणप्रातःसायमभिवादन-विद्यासञ्चयजितेन्द्रियत्वा-दीन्येते ते नित्यधर्माः।" - आश्वलायन, गोभिल, पारस्कर गृह्यसूत्रों में उल्लिखित वाक्य।

संस्कृत वाङ्मय में निरूपित विद्यार्थियों के इन नियमों का गुम्फन एक संस्कृत सुभाषित में बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है-

"काकचेष्टा बकोध्यानं श्वाननिद्रा तथैव च।
अल्पहारी गृहत्यागी विद्यार्थी पञ्चलक्षणम्॥"

विद्यार्थी के ये लक्षण और तदनुपालन में धर्मशास्त्र ग्रन्थों मे बताये गये नियम विद्याप्राप्ति के अंग हैं। इन नियमों का पालन करता हुआ विद्यार्थी क्रमशः व्यष्टि से समष्टि चिन्तन की ओर अग्रसर होता हुआ अपने सर्वोत्तम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। मानव-जीवन के अस्तित्व के चार लक्ष्य माने गये हैं - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। सर्वोत्तम लक्ष्य है मोक्ष, जिसे मुक्ति, अमृतत्वम्, निःश्रेयस, कैवल्य, अपवर्ग आदि कई नामों से पुकारा जाता है। विद्याध्ययन काल में ब्रह्मचर्य में व्यक्ति को अनुशासन एवं संकल्प के अनुसर रहना पड़ता था। उसे आज्ञाकारिता, आदर, सादे जीवन एवं उच्च विचार के सद्गुण इस आश्रम में प्राप्त होते थे। तत्पश्चात् गृहस्थाश्रम में सांसारिक जीवन का उपभोग करते हुए सन्तानोत्पत्ति करता था।

अपने सम्बन्धियों के प्रति स्वकर्तव्य का निर्वहन करते हुए वह उपयोगी, परिश्रमी एवं योग्य नागरिक होता था। लगभग ५० वर्ष की अवस्था हो जाने पर वह संसार के सुख एवं वासनाओं से ऊपर उठ कर आत्म-निग्रही, तपस्वी एवं निरपराध जीवन बिताता था। इसके उपरान्त संन्यास का आश्रम आता था। वह इसी जीवन में अन्तिम लक्ष्य (मोक्ष) प्राप्त कर सकता है।

४.५ विद्या का प्रयोजन

भारतीय ज्ञान प्रणाली में विद्याध्ययन का मुख्य प्रयोजन सब प्रकार के दुःखों की निवृत्ति और अमृत आनन्द की प्राप्त ही रही है। अत एव उपनिषद् कहती है कि "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।[५४]" केनोपनिषद् में विद्या का प्रयोजन बताते हुए कहा गया है कि विद्या के द्वारा अमृतत्व की प्राप्ति होती है - "विद्यया विन्दतेऽमृतम्।[५५]" मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्मविद्या के द्वारा सम्पूर्ण विघ्नों का नाश हो जाता है। जो कोई परब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है। उस विद्वान् के कुल में कोई अब्रह्मवित् नहीं होता है। वह आत्मा और अनात्मा के अध्यासरूपी हृदय ग्रन्थियों से छूटकर अमर हो जाता है -

"स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति।
तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति॥[५६]"

विद्याध्ययन का अन्य प्रयोजन यह भी है कि उत्पन्न प्राणिमात्र ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण एवं देव-ऋण - इन तीन प्रकार के ऋणों से युक्त होता है। इन तीनों ऋणों का अपाकरण क्रमशः ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के द्वारा ही सम्भव है - "त्रिभिः ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यः प्रजया पितृभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः।[५७]" बृहदारण्यकोपनिषत् में कहा गया है कि "मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक - ये तीन लोक हैं। यह मनुष्यलोक पुत्ररूप साधन के द्वारा प्राप्तव्य है, किसी अन्य कर्म से नहीं। तथा पितृलोक कर्म से और देवलोक विद्या से जीते जा सकते हैं। लोकों में देवलोक ही श्रेष्ठ है, इसलिये विद्या की प्रशंसा करते हैं।[५८]" इस प्रकार भारतीय शिक्षण प्रणाली मनुष्य को देवत्व की प्राप्ति करवाती है।

४.७ समावर्तन

---

[५४] *यजुर्वेद, ४०.१४*

[५५] *केनोपनिषत् २.४*

[५६] *मुण्डकोपनिषत् ३.२.९*

[५७] *तैत्तिरीयसंहिता, ६.३.१०.५*

[५८] *"अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको देवलोको वै लोकानां श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशंसन्ति" - बृहदारण्यक उपनिषत्, १.५.१६*

गुरुकुल में ब्रह्मचारी द्वारा विद्याध्ययन पूर्ण होने पर समावर्तन संस्कार विहित है। प्राचीनकाल में दो प्रकार के ब्रह्मचारी होते थे - उपकुर्वाण और नैष्ठिक। प्रथम वह था जो अपनी विद्या समाप्तकर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था, दूसरा आजीवन गुरुकुल में रहकर विद्यार्थी जीवन व्यतीत करता था। विद्या अथवा ज्ञान की उपमा सागर से दी जाती थी और उसमे जो स्नान किये हो वह स्नातक कहलाता था। स्नातक भी तीन प्रकार के कहे गये हैं - विद्यास्नातक, विद्याव्रतस्नातक और उभयस्नातक अर्थात् विद्याव्रतस्नातक। जो केवल विद्या पढ़कर गुरुकुल से घर लौट आता था वह विद्यास्नातक, जो विद्या कम पढ़ता था किन्तु व्रत (तपस्या और शील) का पूरा पालन करता था वह व्रतस्नातक तथा जो पूरी विद्या प्राप्त करके व्रत का भी पालन करता था वह उभयस्नातक कहलाता था। समावर्तन संस्कार वस्तुत गुरुकुल में गुरु के प्रत्यक्ष सानिध्य में विद्या समाप्ति का द्योतक है। ब्रह्मचर्याश्रम में अनुशासनपूर्वक रहकर ब्रह्मचारी एक योग्य नागरिक के रूप में अब समाज को अपना योगदान दे सकता है, उसने जिस विद्या का अर्जन किया है वह समष्टि रूप से समाजोपयोगी बनें इसके लिए वह गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर राष्ट्र निर्माण में अपना योगदान देता था।

५. उपसंहार

भारतीय संस्कृति ही एक ऐसी संस्कृति है जो मनुष्य बनाने की क्षमता से ओत-प्रोत है। भारतीय संस्कृति से अनुप्राणित शिक्षा प्रणाली की वह आदर्शवादिता क्रिया पद्धति जो मनुष्य के चिन्तन को व्यष्टि से समष्टि की ओर ले जाती है जो उसमें आत्मीयता, उदारता, सेवा, स्नेह, मृदु भावना, सहिष्णुता और सहकारिता को उत्पन्न करती है। इसकी उच्चस्तरीय विचारणा जिससे व्यक्ति इस लोक में सन्तोष और उल्लास से भरी अन्तःस्थिति को पाकर सुख और शान्ति से भरा-पूरा जीवन जी सकता है और तत्त्वज्ञान प्राप्त करके सच्चिदानन्द स्वरूप अखण्ड आनन्द स्वरूप परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति कर सकता है। यही भारतीय संस्कृति के शिक्षण की मूलधारा रही है।

कालिदास ने बौद्धिक रूप से आत्मनिर्भर इस भारतीय शिक्षण एवं जीवन पद्धति का जो निरूपण रघुवंश में किया है वह इसके उदात्त पक्ष जो समग्र विश्व के सामने आदर्श है-

> "शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
> वार्धके मुनिवृत्तिनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥[५९]"

शिक्षण के इन सिद्धान्तों में भारतीय मनीषा की बौद्धिक आत्मनिर्भरता होने के कारण ही भारतीय संस्कृत आज भी चिरन्तनी बनी हुई समग्र विश्व को अनुप्राणित कर रही है। अतः आज आवश्यकता है

---

[५९] *रघुवंश, १.८*

कि भारतीयों को मानसिक रूप से हमेशा से परतन्त्र बनाने के लिये लॉर्ड मैकाले द्वारा प्रतिपादित शिक्षा प्रणाली के स्थान पर भारतीय संस्कृति, ज्ञान प्रणाली, चिन्तन परम्परा को पोषित करने वाली शिक्षा प्रणाली को आत्मसात् करना, जो हमें बौद्धिक रूप से भी आत्मनिर्भर बनाती है। नई राष्ट्रिय शिक्षा नीति इस दिशा में नये द्वार का उद्घाटन करती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

- Horne, H. H. The Philosophy of Education. New York: Harper & Bros. 1905. Print
- R. N. Aralikatti, Tirupati. Features of Upanishadic Methodology – a comparative study, All India Oriental Conference, 1974, Kurukshtra University, Kurukshetra, P R-75,P. 309.
- उपैति, थनेशचन्द्र. विष्णुपुराण. दिल्ली : परिमल पब्लिकेशन, २००३. प्रिंट
- कालिदास. रघुवंश. वाराणसी : चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन. २०१८. प्रिंट
- कोवेल, ई. बी.कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्. कोलकाता : एशियाटिक सोसायटी. १८६१. प्रिंट
- गोयन्दका, हरिकृष्णदास. ईशादि नौ उपनिषद्.गोरखपुर : गीताप्रेस, २०१७. प्रिंट
- पोद्दर, हनुमानप्रसाद. महाभारत. गोरखपुर : गीताप्रेस. १९८५. प्रिंट
- वात्स्यायन. कामसूत्र. मुम्बै : निर्णयसागर प्रेस. १९००. प्रिंट
- शंकराचार्य. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य. दिल्ली : चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, २०१३. प्रिंट
- शर्मा, उमाशंकर. निरुक्त. वाराणसी : चौखम्बा विद्या भवन. १९६१. प्रिंट
- सरस्वती, दयानन्द. यजुर्वेदभाषाभाष्यम्. अजमेर : वैदिक पुस्तकालय,१९६१. प्रिंट
- सरस्वती, दयानन्द. सत्यार्थ प्रकाश. अजमेर : वैदिक पुस्तकालय,१९७१. प्रिंट
- स्वामी विवेकानन्द. शिक्षा. नागपुर : श्रीरामकृष्ण आश्रम, १९५१. प्रिंट

~~~~~~~~~~~
~~~~~~~~~~~